सहजानंद शास्त्रमाला

एकीभावस्तोत्र

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला–१०

श्रीमद्वादिराजमुनिविरचितम्

एकीभावस्तोत्रम्

(सहजानन्दप्रकटीकृताध्यात्मध्वनिसहितम्)

रचयिता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

द्वितीय संस्करण
११००

१९६३

न्यौछावर
२५ नये पैसे

दो शब्द

मैं बहुत दिनोंसे सोचा करता था कि जैन धर्म तो ईश्वर को कर्ता हर्ता नहीं मानता, फिर क्यों जैन धर्ममें इस प्रकारका वर्णन है कि अमुकने भगवान् की स्तुति की और उसका कार्य सिद्ध हो गया या सङ्कट निवारण हो गया। और स्तुति भी इस प्रकार कि भगवान् आपने अनेकोंको उबारा, जो आपके दरबारमें आया, वह खाली नहीं गया; जिसने आपका नाम लिया उसका सब सङ्कट दूर हो गया ? उदाहरणके तौरपर सीताको अग्निका जल बनाकर सिंहासनपर बैठाया, द्रोपदीका चीर बढ़ाया, सोमा सतीके लिये सर्पकी फूल-माला बनाई, वादिराज मुनिका कुष्ट निवारण किया, धनञ्जय सेठके पुत्रको निर्विष किया। इन सब बातोंको सुन व पढ़ कर मुझे बड़ा दुःख होता था तथा आश्चर्य भी कि एक ओर हमारे यहां ईश्वरकर्तृत्वका पूर्ण विरोध किया गया है और दूसरी ओर इस प्रकारकी स्तुति की गई हैं और वह स्तुति भी साधारण गृहस्थियों द्वारा ही नहीं वरन् बड़े बड़े आचार्यों द्वारा तक की गई। एक दिन श्री हस्तिनागपुर क्षेत्रपर मैं परम पूज्य आध्यात्मिक संत श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराजके दर्शनार्थ गया। उनकी मुझ पर सदैव विशेष कृपा रही है। उनके हाथमें एक कापी देख मैंने पूज्य महाराज जी से पूछा कि यह क्या है तो उन्होंने उत्तर दिया कि भाई यह पूज्य श्री वादिराज मुनि द्वारा रचित एकीभाव स्तोत्र है। इसमें से मैंने अध्यात्म-ध्वनि निकाली है। अर्थात् जो श्लोक श्री वादिराज मुनिने बनाये थे उनका आध्यात्मिक अर्थ किया है। थोड़ा सा उसमें से उन्होंने मुझे पढ़ कर भी सुनाया। सुनते सुनते मेरी पिछली सारी शंका निवारण हो गई। मैं समझ गया कि जैन धर्ममें कहीं भी ईश्वरकर्तृत्वकी पुष्टि नहीं की गई वरन् स्वयंको स्तुति द्वारा स्वयंमें स्थिर करने का प्रयत्न किया गया है। और जिस समय स्वयंको स्वयंमें स्थिर करनेमें सफल हो गये तो स्वयंका जो भी कार्य हुआ वह स्वयं पूर्ण हो गया और इसमें आश्चर्य भी कोई नहीं। स्वयंको स्वयंमें स्थिर करने से तो केवल ज्ञान तक की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर उसके सामने ये लौकिक चमत्कार तो कुछ भी नहीं हैं।

श्री वादिराज मुनिको कोढ़ हो गया था। जैनधर्मके एक विरोधीने राज-सभामें निन्दा की कि जैन मुनि तो कोढ़ी होते हैं। एक जैन श्रावकने इसका प्रतिवाद किया। अन्तमें निश्चय हुआ कि जिसका कथन मिथ्या होगा वह फांसी पर लटका दिया जायेगा। जैन श्रावक जंगलमें गया, वहाँ कुष्टसे पीड़ित श्री वादिराज मुनिको देखा तो बहुत दुखी हुआ, सब हाल श्री मुनिमहाराजको सुनाया और घर चला आया। मुनि महाराज ध्यानमें बैठ गये और उन्होंने एकीभाव स्तोत्रकी रचना की अर्थात् ज्ञानघन, निर्विकार, निरंजन, एक आत्मा की आराधना की अर्थात् अपना उपयोग अपनी आत्मामें लगाया और फल उसका क्या हुआ कि चार छन्द ही बना पाये थे कि उनका कोढ़ मिट गया। कोई इसमें यह कहने लगे कि भाई पहला छन्द बनानेपर ही कोढ़ क्यों न मिटा या स्तोत्र पूरा होनेपर ही कोढ़ मिटना चाहिये था—सो ऐसी बात नहीं है। जिस समय उपयोग आत्मामें लीन हुआ कि उसी समय कार्य सिद्ध हो जाता है। यह सब कथन पूज्य श्री क्षुल्लकजी महाराजने मुझे बताया। मैंने उनसे प्रार्थना की कि महाराज ! फिर ऐसी पुस्तक तो शीघ्र ही प्रकाशित होनी चाहिये जिससे लोगोंमें मेरी भांति जो शंका बनी हुई है वह निवारण हो जाये। मेरी प्रेरणासे उन्होंने स्वीकृति दे दी। अस्तु, यह छोटी सी परन्तु पुस्तक अद्भुत आपके समक्ष उपस्थित है।

पूज्य श्री क्षुल्लक जी महाराजकी विद्वत्ता, त्याग, शांत परिणामसे सभी लोग परिचित हैं। आपने अनेकों ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें आत्मसम्बोधन, सहजानन्द गीता, जीवस्थान चर्चा, समस्थान सूत्र आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस छोटी सी पुस्तकमें आप देखेंगे कि उन्होंने कितने सुन्दर ढंगसे एकीभाव-स्तोत्रकी अध्यात्मध्वनि निकाली है। मेरी प्रार्थना है कि आप इसको एक बार अवश्य पढ़ें। आपको अपूर्व लाभ होगा।

मुजफ्फरनगर। —मूलचन्द जैन,

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज द्वारा विरचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

(१)

मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान् ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं राग वितान ॥

(२)

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित-शक्ति सुख-ज्ञान-निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

(३)

सुख-दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

(४)

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

(५)

होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, "सहजानन्द" रहूँ अभिराम ॥

(अहिंसा धर्मकी जय)

पूज्यश्री-मनोहर-वर्णि-सहजानन्द-विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(१)

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(२)

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतन्त्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(३)

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(४)

ज्योतिः परं स्वरसकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधामनियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(५)

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
सद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(६)

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनन्दशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(७)

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमिं, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

(८)

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभावमनुपर्ययं याति ॥

श्रीमत्पूज्यवरवादिराजमुनिकृतमेकीभावस्तोत्रम्

(सहजानन्दप्रकटीकृताध्यात्मध्वनिसहितम्)

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति। तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तये चेज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥१॥

अन्वय—मया सह स्वयं एकीभावं गतः इव भवभवगतः दुर्निवारः यः कर्मबन्धः घोरं दुःखं करोति, हे जिनरवे तस्य अपि अस्य उन्मुक्तये त्वयि भक्तिः चेत् तया अपरः कः ताप हेतुः जेतुं शक्यः न भवति।

अर्थ—मेरे साथ एकीभावको प्राप्त हुए की तरह भव भव नें साथ चला हुआ जो दुर्निवार कर्मबंध घोर दुःखको करता है, हे जिन सूर्य ! ऐसे भी उस कर्मबन्धसे मुक्तिके लिये तुम्हारी भक्ति समर्थ होती है तो और दूसरा कौनसा संतापका कारण जीता जानेके लिये शक्य (सम्भव) नहीं है ?

अध्यात्मध्वनि—भव भवमें प्रवाह रूपसे चला आया हुआ जो रागादि क्रियारूप बन्धन अपनी परिणतिसे स्वभावमें एकपने जैसे भावको प्राप्त हुआ जीवके दुर्निवार घोर दुःखको करता है, ऐसे उस कर्मबंधके नष्ट करनेके लिये हे जिनवर, हे जिनरवि, विषयकषाय विभावोंको जीतने वालोंमें श्रेष्ठ ज्योतिर्मय सूर्य अर्थात् हे ज्ञायकभाव ! तुम्हारी उन्मुखता, भक्ति तथा आराधना जब समर्थ है तब उस निज ज्ञायकभावकी आराधना के द्वारा अन्य संतापके निमित्तभूत द्रव्यकर्म आदि जीत लेना क्या शक्य नहीं है ? अर्थात् निजचैतन्य भावकी आराधनासे द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म—सभी जीते जा सकते हैं।

सारांश—चैतन्यभावकी आराधनामें सर्व संकट दूर होते हैं।

ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः। चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्-भासमानस्तस्मिन्नंहः कथमिव ततस्तत्त्वतो वस्तुमीष्टे ॥२॥

अन्वय—हे जिनवर ! चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः त्वां एव दुरितनिवहध्वांत-विध्वंसहेतुं ज्योतीरूप आहुः च मम चेतोवासे स्फारं उद्भासमानः भवसि, तस्मिन् अहं तत्त्वतः कथं इव वस्तुं ईष्टे।

अर्थ—हे जिनवर ! चिरकालसे तत्त्वविद्यामें अभियुक्त मुनिवृन्द तुमको ही पाप रूप अन्धकारके विनाशके कारणरूप, ज्योतिर्मय कहते हैं। और, तुम मेरे मन मन्दिरमें प्रकटवत् प्रकाशमान हो रहे हो, फिर उस मन्दिरमें पापान्ध-कार वस्तुतः कैसे निवास पानेको समर्थ हो सकता है ?

अध्यात्मध्वनि—हे जिनवर अर्थात् विषयकषायोंके जीतनेके स्वभाववाले श्रेष्ठ ज्ञायकभाव ! चिरकाल तक तत्त्वज्ञानमें उपयुक्त हुए योगीजन तुमको ही विकल्पलक्षण पापसमूह रूप अन्धकारके विनाश करनेमें कारणभूत ज्योति-स्वरूप कहते हैं। ऐसे तुम मेरे चित्तगृहमें—उपयोगमें प्रकट प्रकाशमान हो रहे हो, फिर उस उपयोगमें अन्धकार वास्तवमें किस प्रकार आवासको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् जिसके उपयोगमें चैतन्य तत्त्व है उस आत्मामें मोह आदि कोईसा भी अन्धकार ठहर नहीं सकता।

सारांश—जहां प्रकाश है जिसे योगीन्द्र ध्याते हैं उस चैतन्यकी आराधना करो।

आनंदाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन् यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम्। तस्याभ्यस्तादपि च

सुचिराद्देहवल्मीकमध्यान्निष्कास्यन्ते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः ॥३॥

अन्वय—यः त्वयि दृढमनाः सन् आनन्दाश्रुस्नपितवदनं च गद्गदं अभिजल्पन् स्तोत्रमन्त्रैः भवन्तं चार्येत तस्य अभ्यस्तात् अपि विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः देहवल्मीकमध्यात् निष्कास्यन्ते ।

अर्थ—जो तुममें दृढ़ चित्त होता हुआ, आनंदमय अश्रुओंसे भीग गया है मुख जहाँ इस प्रकार एवं गद्गद् वाणीसे बोलता हुआ स्तोत्र मंत्रोंके द्वारा आपको पूजता है उसके अभ्यस्त भी शरीर रूपी वामीमें से नाना प्रकारके विषम रोग रूपी सर्प निकल जाते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—चैतन्य भावके गहन ध्यानके प्रभावके निमित्तसे आनन्दरूप अश्रु करि स्नपित हुआ है मुख (ज्ञान) जिसमें (इस आत्माका मुख ज्ञान है जिसके द्वारा आत्मा पहिचानमें आता है) अथवा आनन्द रूप अश्रुकर सर्वप्रदेशों में अवगाह गया है ज्ञान जिसमें—इस प्रकार तथा गद्गद् उत्तम स्तवन करता हुआ अव्यक्त ध्वनिमें सूक्ष्म अन्तर्जल्प—विद्धज्ञानी होता हुआ जो, हे चैतन्यस्वरूप ! तुममें दृढ़मन होता हुआ भजन-मननसे तुमको पा लेता है उस आत्मामें से अनादि प्रवाहसे चले आये हुये सूक्ष्म शरीररूप वाणीमें बसे हुए अनेक विषम परिणाम रूप व्याधियां वही हुए सर्प वे शीघ्र ही निकल जाते हैं अर्थात् जो चित्प्रकाशमें उपयुक्त रहता है उसके नाना क्लेशस्वरूपी विषम परिणाम—रागद्वेषादि विभाव नहीं रहते ।

सारांश—चैतन्य तत्त्वके ध्यानसे भावरोग, द्रव्यरोग सभी विलीन हो जाते हैं ।

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम् । ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्टस्तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥४॥

अन्वय—हे देव ! भव्यपुण्यात् त्रिदिवभवनात् इह एष्यता त्वया भव्यपुण्यात् इदं पृथ्वीचक्रं कनकमयतां निन्ये। तत् हे जिन ! ध्यानद्वाररुचिकरं मम स्वान्तगेहं प्रविष्टः इदं वपुः यत् सुवर्णीकरोषि तत् किं चित्रम् ?

अर्थ—हे देव ! भव्य जीवोंके पुण्यसे स्वर्गलोकसे इस नर लोकमें आने वाले तुमने आनेसे पहिले ही इस पृथ्वीमण्डलको सुवर्णमयताको प्राप्त करा दिया था तब फिर हे जिनेन्द्र देव ! ध्यान रूपी द्वार है जिसमें ऐसे रुचिकर मेरे मनमन्दिरमें प्रविष्ट हुए तुम इस शरीरको जो सुवर्णमय कर रहे हो वह क्या आश्चर्यकी बात है ?

अध्यात्मध्वनि—हे प्रकाशमय ! अनुभवमें आते हुए तुमने इस लोकमें देवादि भोगपूर्ण गति पानेसे पहिले ही पवित्र होनहारसे अनेक अन्तरात्मावोंके मृत्युचक्रको मर्मभेदी कर दिया अर्थात् तुम्हारे अनुभव होनेके प्रारम्भमें ही ज्ञानियोंके मरण जन्मकी व्यवस्थाको तुम्हारे प्रभाव मात्रने ही ढीला कर दिया, आत्माके स्वभावको विकासमें कर दिया तब ध्यानरूपी है द्वार जहां पर, ऐसे रुचिकर हृदय रूपी घरमें तुम (हे ज्ञायक भाव) प्रविष्ट होकर इस देहाकार आत्मतत्त्वको यदि जैसा सुन्दर शोभनीक वर्ण-स्वरूप है उसी प्रकार करते हो तब इसमें क्या आश्चर्य है ?

सारांश—चैतन्यतत्त्वकी आराधनासे आत्माकी अपूर्व सुभगता प्रकट होती है।

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धुस्त्वय्येवासौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका। भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन् मामिकां चित्तशय्यां मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूथं सहेथाः ॥५॥

अन्वय—हे भगवन् ! त्वं लोकस्य एकः निर्निमित्तेन बन्धुः असि, सकल-

विषया अप्रत्यनीका असौ शक्तिः त्वयि एव असि । ततः चिरं भक्तिस्फीतां मामिकां चित्तशय्यां चिरं अधिवसन् मयि उत्पन्नं क्लेयूथं कथं इव सहेथाः ?

अर्थ—हे भगवन् ! तुम लोकके एक अकारण बन्धु हो, सकल पदार्थोंको विषय (ज्ञान) करने वाली निधि शक्ति तुममें ही है। तब फिर चिरकालसे भक्तिसे विस्तृत की हुई मेरी चित्तशय्या पर आवास करते हुए तुम मुझमें उत्पन्न हुए दुःखोंके समूहको कैसे सहन करोगे ?

अध्यात्मध्वनि—हे भगवन्-ज्ञानपिण्ड ! तुम लोकके एक बिना निमित्त-प्रयोजनके बन्धु हो। जिस आत्माकी दृष्टि तुम (ज्ञायकभाव) पर होती है वह अनाकुल हो जाता है। हे ज्ञानमय समस्त लोकालोकको विषय करनेवाली अप्रतीघातरहित शक्ति तुम ही में है। सब भक्तिसे स्फीत कोमल सजी हुई मेरी चित्तशय्यामें रहते हुए तुम मुझमें उत्पन्न हुए क्लेशसमूहको क्यों ही सहते हो ?

सारांश—चैतन्यदेवके आराधकको क्लेश संक्लेश होना महान् आश्चर्यकी वस्तु है।

जन्माटव्यां कथमपि मया देव दीर्घं भ्रमित्वा ,
प्राप्तैवेयं तव नयकथा स्फारपीयूषवापी ।
तस्या मध्ये हिमकरहिमव्यूहशीते नितांतं
निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ॥६॥

अन्वय—हे देव ! जन्माटव्यां दीर्घं भ्रमित्वा मया तव इयं नयकथा स्फार-पीयूषवापी कथं अपि प्राप्ता एव। हिमकरहिमव्यूहशीते तस्या मध्ये नितान्तं निमग्नं मां दुखः दावोपतापाः कथं न जहति ?

अर्थ—हे देव ! जन्मरूपी अटवीमें बहुत काल भ्रमण करके मैंने तुम्हारी यह नयकथारूपी अमृतकी वापिकाको किसी प्रकारसे प्राप्त कर ही ली है,

अब चन्द्रमा और हिम (बर्फ के समूह) के समान शीतल उस बावड़ीके मध्यमें अत्यन्त मग्न हो रहे मुझको दु:खाग्निके सन्ताप कैसे नहीं छोड़ते हैं ? अपितु छोड़ ही देते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—हे सदा प्रकाशमान देव ! विशेषरूप औपाधिक व्यक्तियों से जन्म रूप अटवीमें दीर्घ भ्रमण करके मैंने किस ही प्रकार समोघ सुखपूर्ण अमृतसे भरी यह तुम्हारी स्तुति कथ (परम आत्मस्वरूप की कहानी) प्राप्त कर ही ली । अब उस नय कथामें जो कि चन्द्र हिम आदि समूहसे भी अधिक सुखावह (शीतल) है, उसमें अवगाह किये हुए मुझको दु:ख रूप दावानलके संताप—अर्थात् परलक्ष्य से उत्पन्न हुए संक्लेश कैसे नहीं छोड़ देते हैं, अपितु छोड़ ही देते हैं । सारांश—जो अनादि, अनंत, अचल, स्वसंवेद्य निजज्ञानभाव पर दृष्टि देते हैं—ज्ञाता द्रष्टारूप बन जाते हैं उन्हें फिर किसी प्रकार संक्लेश दु:ख नहीं उत्पन्न होता है ।

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं,
हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः ।
सर्वांगेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे,
श्रेयः किंतत्स्वयमहरहर्यन्न मामभ्युपैति ।।७।।

अन्वय—यात्रया त्रिलोकी पुनतः ते पादन्यासात् अपि पद्मः हेमाभासः सुरभिः च श्रीनिवासः भवति । हे भगवन् त्वयि मे अशेषं मनः सर्वांगेण स्पृशति सति तत् किं श्रेयः यत् अहः अहः मां न अभ्युपैति ।

अर्थ—यात्रा विहारके द्वारा तीनों लोकों को (सर्व जीवों को) पवित्र करने वाले तुम्हारे चरणोंके न्यास रखनेमात्र से जब कमल भी सुवर्ण जैसा देदीप्यमान सुगन्धित और लक्ष्मीके निवास वाला हो जाता है तब हे प्रभो ! तुम्हारे द्वारा मेरे समस्त मनको सर्वांगसे छू लेने पर ऐसा वह कौन सा कल्याण है जो प्रति दिन मुझको प्राप्त नहीं होता है ।

अध्यात्मध्वनि— अपनी गतिसे, क्रियासे तीनों लोकों को पवित्र करने वाले (जानने वाले) हे चैतन्य प्रभो ! तुम्हारे यदि ज्ञान दर्शनके प्रवर्तनसे ही पद्म कहिये भव्योंके हृदय कमल सुवर्णकी तरह निर्मल सारसहित ज्ञानलक्ष्मी का निवासरूप हो जाता है। हे ज्ञानमय ! मेरा मन तुममें सर्वरूपसे समस्त स्पर्शन करता है तब क्या ऐसा कोई कल्याण है जो प्रतिदिन मुझको न प्राप्त होवे ?

सारांश— चैतन्यका आराधक कल्याणका निधान है।

पश्यंतं त्वद्वचनममृतं कर्णपात्र्या पिवंतं,
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधामप्रविष्टम् ।
त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैकभूमिं क्रूराकाराः
कथमिव रुजा कण्टका निर्लुठन्ति ॥८॥

अन्वय—अमृतं त्वद्वचनं कर्णपात्र्या पिवंत कर्मारण्यात् असमानन्दधाम-प्रविष्टं, दुर्वारस्मरमदहरं त्वां पश्यंतं त्वत्प्रसादैकभूमि पुरुषं रुजा कण्टकाः कथं इव निर्लुठन्ति।

अर्थ—अमृतमय तुम्हारे वचनको कर्णपात्रसे पीनेवाले को, कर्मरूपी बनसे निकल कर अनुपम आनन्दगृहमें प्रविष्ट हुए और दुर्निवार कामके मदको हरन करने वाले तथा तुमको अवलोकित करने वाले पुरुषको एक तुम्हारे प्रसादके प्रधानपात्र पुरुषको रोग रूपी कांटे कैसे दुःखी कर सकते हैं ?

अध्यात्मध्वनि—अमृत (ज्ञान) के साधनभूत होनेसे अमृतमय तुम्हारे वाचक वचनको पीते हुए, कर्मबनसे निकल कर अनुपम आनन्दधाममें प्रविष्ट हुए दुर्निवार मानके मानको हरने वाले तुमको देखने वाले, तुम्हारे (ज्ञानभाव) की निर्मलताके प्रसादके आधारभूत एक इस भक्तको क्रूर रोग रूप कण्टक क्यों कर सताते हैं ? नहीं सताते हैं।

सारांश—चैतन्यका आराधक निर्बाध होता है।

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-
र्मानस्तंभो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः।
दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः॥९॥

अन्वय—रत्नमूर्तिः मानस्तंभः तदितरसमः केवल पाषाणात्मा तथा परः रत्नवर्गः तादृशः अस्ति। यदि तस्य तच्छक्तिहेतुः तव प्रत्यासत्तिः न स्यात् सः नराणां मानरोगं कथं हरति?

अर्थ—रत्नमय मानस्तंभ अन्य पाषाणोंकी तरह केवल पाषाणात्मक है, उस ही प्रकार अन्य रत्न समूह भी वैसा ही पाषाणात्मक है सो उसके उस शक्तिको कारणरूप तुम्हारी समीपता वहाँ न हो तो कैसे वह मानस्तंभ मनुष्यों के मानरूपी रोगको हर सकते?

अध्यात्मध्वनि—समवशरणमें मानस्तम्भ होता है, मानस्तम्भमें भी रत्नकी मूर्ति होती है वह सब पाषाणात्मक है जैसे कि अन्य पाषाण व रत्नसमूह, फिर भी वे मुनियोंके मान रोग हरनेमें कारण सुने जाते हैं सो बात यह है यदि वहाँ तीर्थंकर की समीपता न होती और वास्तव में तो तीर्थंकरकी आत्मामें ज्ञायकभावकी व्यक्ति न होती तो वह जड़ उपचारसे भी मान रोग हरनेमें निमित्त कैसे हो सकते थे? उसकी शक्ति तो तुम ही हो।

सारांश—जो व्यवहार धर्ममें चमत्कार भी दिखाई देता है वह हे ज्ञायक भाव तुम्हारे ध्यान, अनुभव आदि का ही कारण है। अतः एक तुम ही प्रसन्न निर्मल रहो, इसीमें सब सिद्धि है।

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन् मूर्तिशैलोपवाही,
सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबंधं धुनोति।
ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्ट-
स्तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ॥१०॥

अन्वय—भवन्मूर्तिशैलोपवाही हृद्यः मरुद् अपि प्राप्तः सन् सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबधं धुनोति। ध्यानाहूतः त्वं यस्य हृदयकमलं प्रविष्टः हे देव! इह भुवने तस्य कः लोकोपकारः अशक्यः अस्ति।

अर्थ—हे देव! आपकी मूर्ति (शरीर) रूपी पर्वतसे बहने वाली मनोहर वायु भी प्राप्त होती हुई शीघ्र ही पुरुषोंके अमर्यादित रोग रूपी धूलिके सम्बन्ध को नष्ट कर देती है तब ध्यानसे बुलाये गये तुम जिसके हृदय कमलमें प्रविष्ट हुए हो। हे नाथ इस लोकमें उसका ऐसा कौनसा कार्य है जो अशक्य हो?

अध्यात्मध्वनि— हे चैतन्य भगवन्! तुम पर्यायोंमे विराजते हो उनमें कुछ पर्याय सिद्ध होनेसे कुछ पहिले देहके बाह्य क्षेत्रमें रहती हैं ऐसे उस आप साकार की मूर्तिके पत्थरसे भी टकरा कर चलने वाली भी हृद्य वायु जिसके हृदयको प्राप्त हो जाय तो वह वायु भी पुरुषोंके असीमित रोगके बन्धनको नष्ट कर देती है। तो फिर ध्यानसे बुलाए गए हे ज्योतिर्मय देव! तुम जिसके ज्ञानासन में प्रविष्ट हो जाते हो (विराज जाते हो) उस आत्माका इस लोकमें ऐसा कौन लोकोपकार है जो अशक्य हो (न हो सकता हो)

सारांश—जब तुम्हारे अव्यक्त संगसे वायु भी अनेक चमत्कार दिखा जाती है तब हे ज्ञानदेव! जो तुममें रत हो जाता है उसका कौनसा कार्य असम्भव है? परमार्थ भी सरल है।

जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक् च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।

त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या,
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ॥११॥

अन्वय—हे देव ! मम भवभवे यत् च यादृक् दुःखं जातं यस्य स्मरणं अपि शस्त्रवत् निष्पिनष्टि तत् सर्वं त्वं जानासि। त्वं सर्वेशः सकृपः इति त्वां भक्त्या उपेतः अस्मि। तत् यत्कर्तव्यं अस्ति इह विषये देवः एव प्रमाण समस्ति।

अर्थ—हे देव ! मेरे भवभव में जो जैसे दुःख उत्पन्न हुए जिनका कि स्मरण ही शस्त्रकी तरह पीड़ित करता है उनको सबको तुम ज''''ते ही हो, और तुम सबके स्वामी व दयालु हो, इस लिए तुमको भक्तिसे मैं प्राप्त किया है। अब इस विषयमें क्या कर्तव्य है, उसमें आप ही प्रमाण हैं अर्थात् आप ही सोचिए। तात्पर्य यह कि दुःख दूर कीजिए अथवा आपकी वृत्ति ही प्रमाण है ऐसा मुझे होना चाहिये।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्योतिर्मय चैतन्य देव ! तुम्हारे स्मरणसे दूर रहनेके कारण व्यवहारमें मूर्तिवान् बने हुये मुझे इस जीवके भवभवमें जो दुःख हुआ है जिसका कि स्मरण मात्र शस्त्रकी तरह पीड़ा देता है उस सब दुःखको भी तुम जानते हो क्योंकि तुम्हारी दृष्टिसे परे अनादिसे ही कुछ नहीं रहा। अब मेरे यह श्रद्धा जगी है कि तुम ही सबके ईश हो—सर्वस्व (मालिक) हो, कृपा-प्रसाद कर सहित हो सो तुम्हें भक्ति पूर्वक प्राप्त हुआ हूँ। अब मेरा क्या कर्तव्य है ? जो कर्तव्य है इस विषयमें हे चैतन्य देव तुम ही प्रमाण हो अर्थात् जो चैतन्य स्वरूपकी स्थिति है वही प्रमाण है अर्थात् वही होना चाहिये।

सारांश—जैसा चैतन्य प्रभु है तैसे बनो—यही कर्तव्य है। इस उपायसे कोई दुःख न रहेगा।

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम्।

कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम् ,
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥१२॥

अन्वय—मरणसमये जीवकेन उपदिष्टैः तवनुतिपदैः पापाचारी सारमेयः अपि दैवं सौख्यं प्रापत् । पुनः अमलै जाप्यैः मणिभिः त्वन्नमस्कारचक्रं जल्पन् यत् वासवश्रीप्रभुत्वं उपलभते अत्र कः संदेहः ?

अर्थ—मरणके समय जीवंधर स्वामीके द्वारा सुनाये गये तुम्हारे नमस्कार मन्त्रके द्वारा कुत्तेने भी देवलोकके सुखको प्राप्त किया तब निर्मल जपने योग्य मणियोंके द्वारा तुम्हारे नमस्कार मन्त्रको जपता हुआ भक्त जो देवेन्द्रोंके ऐश्वर्य का स्वामित्व पा लेते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य ! मृत्युकालमें ज्ञानी उपकारक गुरुके द्वारा उपदिष्ट तुम्हारे ही भाव की अराधना से भरे हुए नमस्कार मन्त्रके द्वारा पापाचरणमें जिसका पहिले समय बीता ऐसा कुत्ता (उपलक्षणात् पशुवत् आचारी संज्ञी प्राणी मात्र) ने स्वर्ग लोक के अच्छे सुखोंको प्राप्त किया, फिर निर्मल आराधनीय गुण स्वभाव रूप दीप्यमान मणियोंके द्वारा हे ध्रुवतत्त्व ! तुम्हारे अभेद नमस्कारके विषयभूत चक्र अर्थात् अनेक गुण अरावों के अभेद स्वरूप एक तत्व को अपने अन्तर्ध्वनिमें अन्तर्जप करते हैं वे जो वासव कहिये अष्टम भूमण्डल उसकी लक्ष्मी कहिये शोभा सिद्धि उसकी प्रभुता को पा लेते हैं तब इसमें क्या संदेह है ?

सारांश—चैतन्य भावकी आराधनाके पद ही इस मन्त्रमें हैं, जिसे जपने से स्वर्गादि प्राप्त होते हैं, तब चैतन्यस्वभाव में उपयोग की स्थिरता से निर्वाण नियत ही है, अतः उसका लक्ष्य अवश्य बना रहना चाहिये ।

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावंचिका कुंचिकेयम्

शक्योद्घाट भवतिहि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमोहमुद्राकवाटम् ॥१३॥

अन्वय—शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सति अपि चेत् अनवधिसुखावञ्चिका कुञ्चिका इयं त्वयि अनोचा भक्तिः नो स्यात् तर्हि मुक्तिकामस्य पुंसः परिदृढ-महामोहमुद्राकवाटं मुक्तिद्वारं हि कथं शक्योद्घाटं स्यात् ?

अर्थ—शुद्ध ज्ञान व शुद्ध चरित्र होनेपर भी यदि अनन्त सुखकी अवञ्चिका (दिलाने वाली) कुञ्जी यह तुम्हारी उत्कृष्ट न हो तो मुक्तिके अभिलाषी पुरुषके लिये मजबूत महामोहके जिसमें कपाट लगे हैं ऐसा मुक्ति द्वार कैसे खोला जा सकता है ?

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य देव ! मैं स्वभावसे शुद्धज्ञान—ज्ञान सामान्यरूप अथवा पर्यायमें सम्यग्ज्ञानरूप, एवं शुद्ध चारित्र-चारित्र सामान्यरूप अथवा पर्यायमें आत्मद्रव्यके अभिमुख चारित्र रूप हूँ, तो भी अनन्त सुखसे दूर नहीं रख सकने वाली कुञ्जी रूप, तुम चैतन्यमें उत्तम भावनमस्काररूप या अद्वैत-नमस्काररूप भक्ति नहीं हो, तो मुक्ति चाहनेवाले पुरुषके व मेरे जिसमें चिर-कालसे मोहता लेकर सहित मजबूत विभाव द्रव्यकर्मके किवाड़ डटे हुए हैं ऐसा मुक्तिका बाह्यद्वार निश्चयसे कैसे खोला जा सकता है ?

सारांश—अनादि अनन्त ज्ञायकतत्त्वमय निज चैतन्यकी सेवा, भक्ति व परिणति बिना राग द्वेष नहीं हट सकते हैं और हम सुखी भी नहीं हो सकते हैं, यही मुक्तिद्वार खोलनेकी चाबी है वह अन्तरंगमें है परापेक्षाके कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

प्रच्छन्नः खल्वयमघमयैरन्धकारैः समन्तात्,
पन्था मुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः।

तत्कस्तेन ब्रजति सुखतो देव तत्त्वावभासी,
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारती-रत्नदीपः ॥१३॥

अन्वय—खलु अयं मुक्तेः पन्था अघमयैः अन्धकारैः समन्तात् प्रच्छन्नः च अगाधैः क्लेशगर्तैः स्थपुटितपदः अस्ति । हे देव ! यदि तत्त्वावभासी भवद्-भारतीरत्नदीपः अग्रे अग्रे न भवति तत् तेन कः सुखतः व्रजति ।

अर्थ—निश्चयसे यह मुक्तिका पन्थ पापमय अन्धकारसे चारों ओरसे ढका है और अगाध क्लेशरूपी गड्ढोंसे ऊंचे नीचे स्थान वाला है । तब हे देव यदि तत्त्वस्वरूप बतानेवाला आपकी भारतीरूप रत्न दीपक आगे आगे न हो तब उस मार्गसे कौन सुखसे जा सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

अध्यात्मध्वनि—निश्चयकर यह ज्ञायकभावके अनुभवरूप मोक्षका मार्ग राग द्वेष ममत्व विषयेच्छा आदि पापमय अन्धकारसे सर्व प्रदेशोंमें ढका हुआ और बड़े बड़े संक्लेशके गड्ढोंसे अट पट ऊचा नीचा है । हे चैतन्य देव तेरे स्वरूपकी महिमा कर पूर्ण सरस्वती प्रज्ञारूपी उत्तम दीपक यदि मोक्षमार्गके पथिकके आगे आगे न हो तो उस मार्गसे कौन सुखपूर्वक चल सकता है ?

सारांश—चैतन्य तत्त्वका अनुभव होनेपर भी जब तक निर्विकल्पकता नहीं होती है इसी चैतन्य तत्त्वकी चर्चा वाली बुद्धिका सहारा लेना चाहिये अन्यथा शिवमार्ग चलते हुए कर्मोदयका निमित्तमात्र पाकर राग द्वेष संक्लेश आदि गड्ढे बनते जाते है, उनमें पतन हो गया तो फिर बड़ी कठिनाई और खेदकी बात होगी । अतः कारणसमयसारका लक्ष्य निश्चल रखना चाहिये । यही शिवमार्ग उत्तम दीपक है ।

आत्मज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टुरानन्दहेतुः,
कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्यः परेषां ।

हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः,
स्तोत्रैर्बन्धप्रकृतिपुरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः ॥१४॥

अन्वय—द्रष्टुः आनन्दहेतुः अनवधिः आत्मज्योतिर्निधिः कर्मक्षोणीपटल पिहितः यः परेषां अनवाप्य अस्ति । किन्तु भवद्भक्ति भाजः तं बंधप्रकृतिपुरुषोद्दामधात्रीखनित्रैः स्तोत्रैः अनतिचिरतः हस्ते कुर्वन्ति ।

अर्थ—देख लेने वालोंके आनन्दकी कारणभूत अपरिमित आत्मज्योतिरूप निधि कर्मरूपी पृथ्वीपटलसे ढकी हुई है जो पर कहिये अन्य विपरीत दृष्टि-वालोंके लिये अलभ्य है किन्तु आपकी भक्तिके अधिकारी ज्ञानीजन उस निधि को बंधगत प्रकृति रूपी अत्यन्त कठोर पृथ्वीको खोदने वाली कुदाली स्वरूप स्तोत्रोंके द्वारा बहुत ही शीघ्र हाथमें कर लेते हैं अर्थात् पा लेते हैं ।

अध्यात्मध्वनि— चैतन्यसंपत्तिके देख लेनेवाले पुरुषके आनन्दका कारणभूत अमर्याद आत्मज्ञानरूप निधान विभावरूप कर्मपटलों कर आच्छादित (ढका) है जो कि इसके रहस्य से अनवगत मिथ्याबुद्धियोंको अप्राप्य है । किन्तु हे चैतन्य देव ! आपकी भक्तिमें रति (लीनता) करने वाले निकटभव्यजन उस आत्मज्योतिको बंध प्रकृतिके कठिनतम भूमिको खोद देने वाले आपके अनुराग स्तवनोंसे शीघ्र ही अपने प्रत्यक्ष कर लेते हैं ।

सारांश—असीमसुखस्वरूप ज्ञान मात्र महान् निधान हम ही में छुपा है वह राग द्वेष भावोंसे तिरोभूत है, इसपर कर्मका पटल पड़ा है, इसे इसके ही अनुराग स्तवनकी कुद्दालसे कर्म पटलको खोद कर देखा जा सकता है । अपने को हीन दरिद्र अनुभव मत करो, आत्मतत्त्वकी अभेद्य श्रद्धासे तथा स्वतत्त्वके आचरणसे निज वैभवके स्वामी बनो ।

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्धे-
र्या देव त्वत्पदकमलयोः संगता भक्तिगंगा ।

चेतस्तस्यां मम रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः,
कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेहभूमिः ॥१५॥

अन्वय—हे देव नयहिमगिरेः उत्पन्ना च अमृताब्धेः आयता या त्वत्पाद-कमलयोः भक्तिगङ्गा संगता तस्यां रुचिवशात् आप्लुतं मम चेतः यत् क्षालितांहः कल्माष भवति, हे देव इयं किं संदेहभूमिः अस्ति ?

अर्थ—हे देव ! नयरूपी हिमाचलसे उत्पन्न हुई और अनन्त सुखरूप अमृत समुद्र तक लम्बी जो तुम्हारे चरण कमल की भक्तिरूपी गङ्गा प्राप्त हुई है उसमें श्रद्धाके वशसे आप्लावन किया हुआ मेरा चित्त, धुल गये हैं पाप रूपी कल्मष जिसके, ऐसा जो हो जाता है तो क्या यह संदेहका स्थान है ?

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य देव निश्चय दृष्टिरूपी हिमालयसे निकली हुई अमृत अर्थात् अविनाशी अभेद आत्मतत्त्व रूपी समुद्र तक लम्बी चली गई जो तुम्हारे पदद्वय (ज्ञान दर्शन) की सेवा परिणति रूपी गङ्गा नदी समीप बह रही है, उस गङ्गामें शुद्धतत्त्वकी रुचिके वशसे डूबा हुआ मेरा उपयोग पापरूपी कालिमा से क्षालित (रहित) अर्थात् शुद्ध जो हो जाता है, हे देव क्या यह कोई संदेहका भी स्थान है ? यह तो नियमतः इसी प्रकार हो ही जाता है।

सारांश—जिन्होंका उपयोग अनादि अनन्त ज्ञान सामान्य दर्शनसामान्यके अभेदरूप चैतन्य तत्वकी सेवारूपी गङ्गामें डुबोया हुआ है अर्थात् जो निर्विकल्प हो गये हैं वे सर्व विकल्पोंसे रहित स्वच्छ हो ही जाते हैं इसमें संदेहको कोई स्थान नहीं है।

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख त्वामनुध्यायतो मे,
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा ।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपां,
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति ॥१६॥

अन्वय—हे प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख ! त्वां अनुध्यायत: मे त्वयि एव अहं इति निर्विकल्पा मति: उत्पद्यते। यद्यपि इयं मिथ्या एव तदपि अक्षेषरूपां तृप्ति तनुते। हि त्वत्प्रसादात् दोषात्मान: अपि अभिमतफला: भवन्ति।

अर्थ—उत्पन्न हुआ है स्थायी सुख जिसके ऐसे हे देव तुम्हारा ध्यान करने वाले मेरेमें तुमहीमें "वह मैं हूँ" ऐसी निर्विकल्प स्वरूप बुद्धि उत्पन्न होती है सो यद्यपि यह एकीकरणकी बुद्धि मिथ्या है तो भी अविनाशी संतोषको विस्तारती है। सो ठीक ही है तुम्हारे प्रसादसे दोषमय भी प्राणी इष्ट फल को प्राप्त कर लेनेवाले हो जाते हैं।

अध्यात्मध्वनि—प्रकट हुआ है आत्मीय स्थिरताके स्थानका सुख जिसमें ऐसे हे चैतन्य देव ! तुम्हारे ध्यान करने वाले इस मुझ आत्माके तुम में वह मैं ही हूँ इस प्रकारको अभिन्न निर्विकल्प बुद्धि उत्पन्न होती है। यद्यपि चतुष्टयकी अपेक्षासे देखो तो यह बात असत्य है तो भी यह मति निर्बाध अलौकिक संतोषको बढ़ाती है। ठीक ही है तुम्हारी निर्मलता से (अभिव्यक्ति से) सदोष पुरुष भी परमेष्टफलके स्वामी हो जाते हैं।

सारांश—इस चैतन्य तत्त्वके, जिसके कि अनुरूप पर्याय में अनन्त सुख प्रकट है—लक्ष्य में जिसका उपयोग सुदृढ़ है ऐसे मुझको वहां ऐसा अभेद आ जाता है कि उस तुममें मैं ही हूँ याने वहाँ पर्याय नहीं प्रतीत होती है ऐसी अभिन्नता हो जाती है अथवा पर्यायमें मलिनता प्रतीत नहीं होती है। यद्यपि यह बात मिथ्या है क्योंकि चैतन्य तत्त्वके लक्ष्यमें सुदृढ़ उपयोग हो फिर भी अभी वह पूर्ण नहीं है तो भी चैतन्य तत्त्वकी निर्मलताके अनुभवमें पर्यायकी निर्मलता होती जाती है और अन्तमें आप इष्ट हममें (अभिन्न व्यक्तिमें) भी हो जाते हैं अर्थात् तव स्वभावके अनुरूप पर्याय हो जाती है।

मिथ्यावादं मलमपनुदन् सप्तभंगीतरंगै-
र्वागम्भोधिर्भुवनमखिलं देव पर्येति यस्ते।

तस्यावृत्तिं सपदि विबुधाश्चेतसैवाचलेन,
व्यातन्वन्तः सुचिरममृतासेवया तृप्नुवंति ॥१७॥

अन्वय—हे देव सप्तभंगीतरंगैः मिथ्यावादं मलं अपनुदन् ते यः वागंभोधिः भुवनं पर्येति, चेतसा एव अचलेन तस्य आवृत्ति व्यातन्वन्तः विबुधाः सपदि अमृतासेवया रुचिरं तृप्नुवंति।

अर्थ—हे देव सप्तभंगी रूप लहरोंके द्वारा मिथ्यावाद रूपी मलको हटाता हुआ तुम्हारा जो वचन रूपी समुद्र लोकको वेष्टित कर रहा है सो मनरूपी मन्दराचलसे उस वचनसमुद्र का मन्थन करनेवाले विबुध कहिये विद्वान् अथवा देव बहुत शीघ्र अमृत अथवा मोक्षसुखके पानसे चिरकाल तक तृप्त रहते हैं।

अध्यात्मध्वनि—यह चैतन्य स्वस्वरूपसे है, परस्वरूप से नहीं, आदि सप्तभङ्गोंकी तरङ्गोंसे शरीरादि परस्वरूपमें आत्मबुद्धि आदि रूप मलको दूर करता हुआ आपका यह अन्तर्वितर्क वाक्यरूप समुद्र समस्त पदार्थों को घेरे हुए है (सकल तत्त्वका ठीक निर्णय कराता है) उसके आवर्तनको निश्चल उपयोगके द्वारा करनेवाले सम्यग्ज्ञानी आत्मा शीघ्र चैतन्यामृतके आसेवन से अनन्त काल तक अनाकुल हो जाते हैं।

सारांश—स्याद्वादके विधि निषेधादि दृष्टियोंके द्वारा मिथ्या बुद्धिको दूर करके स्वपरके यथार्थ स्वरूपका निर्णय करके निकटभव्यजन सम्यग्ज्ञानके फलस्वरूप निज चैतन्य अमृतका अनुभव पान करके शाश्वत सुखी हो जाते हैं। यही चैतन्यतत्त्व सुखार्थीका लक्ष्य होना चाहिये, जिससे अन्य सर्व पदार्थोंसे व वैभाविक भावोंसे रुचि स्वयं हट जावे।

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः,
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः
सर्वांगेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां,
तत्किं भूषावसनकुसमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥१८॥

अन्वय—यः स्वभावात् अहृद्यः स्यात् स एव परं आहार्येभ्यः स्पृहयति, च यः वैरिणा शक्यः स्यात् सः शस्त्रग्राही भवति। किन्तु हे देव! त्वं सर्वांगेषु सुभगः असि, त्वं परेषां शक्यः नासि, तत् भूषावसनकुसुमैः किं, च उदस्त्रैः शस्त्रैः किम् प्रयोजनम् ?

अर्थ—जो स्वभावसे अहृद्य हो, कुरूप हो वह ही अतिशयतया आभूषणादि की चाह करता है, धारण करता है और जो वैरीके द्वारा जीता जा सकने योग्य हो वह ही शस्त्रका ग्रहण करनेवाला होता है, परन्तु हे देव तुम सर्वाङ्ग में सुभग हो, सुरूप हो तुम किसी पर शत्रु आदिसे जीते जा सकने योग्य नहीं हो फिर अब तुमको वस्त्र पुष्पादि से क्या और अस्त्र शस्त्रोंसे क्या प्रयोजन है ?

अध्यात्मध्वनि—जो स्वभावसे कुरूप हो वह ही अर्थात् उसकी प्रतिमूर्ति (शरीर या प्रतिमा आदि) आभूषणोंको अङ्गीकार करे और जो वैरीके द्वारा जीता जा सके वही बाह्यमें अस्त्र का ग्रहण करने वाला हो, परन्तु हे चैतन्य देव तुम सर्वात्मप्रदेशोंमें सुभग विराजमान हो, दूसरोंके द्वारा (शत्रु, जल, अग्नि आदिके द्वारा) जीते नहीं जा सकते अर्थात् बाधित नहीं हो सकते, फिर तुम्हारी व्यक्तमूर्ति (शरीर या प्रतिमा) को आभूषण फूल आदि से अथवा तीक्ष्ण शस्त्र आदिसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात कुछ भी नहीं। जिस घटमें देव प्रसाद (निर्मलता) के साथ विराजे हैं उसकी प्रतिमूर्ति इस तरहकी होती है। इस तरहकी प्रतिमूर्तिके आश्रय चैतन्य तत्त्वके अन्तरङ्ग लक्ष्यपर पहुंचना चाहिये।

सारांश—निज चैतन्य परम अपूर्व है, किसीके द्वारा भी बाधित नहीं है, सदा प्रकाशमान है। उस पर दृष्टिपात करो और उसके प्रसादसे शाश्वत सुखी होओ।

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति।

त्वं निस्तारी जननजलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं,
त्वं लोकानां प्रभूरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम् ॥१६॥

अन्वय—हे देव ! इन्द्रः तव सेवां सुकुरुतां किं तया श्लाघनं अस्ति ? किन्तु भवलयकरी तस्य इयं एव सेवा श्लाघ्यतां आतनोति अतः त्वं जननजलधेः निस्तारी, त्वं सिद्धिकान्तापतिः, त्व लोकानां प्रभुः इत्थं तव स्तोत्र श्लाघ्यते ।

अर्थ—हे देव ! इन्द्र तुम्हारी सेवाको भले प्रकार करता है, क्या उस सेवासे तुम्हारी प्रशंसा है ? उस सेवकके संसारकालय (विनाश) करने वाली यह सेवा तो उस इन्द्रकी ही प्रशंसा को विस्तारती है । इसलिये तुम संसार समुद्रसे तारनेवाले हो, तुम सिद्धि कान्ताके स्वामी हो, तुम लोकोंके प्रभु हो, इस प्रकार यह तुम्हारी स्तुति प्रशंसनीय है ।

अध्यात्मध्वनि—हे चैतन्य तत्त्व ! तुम्हारा लक्ष्य करके अपनी शक्तिके अनुसार इन्द्र तुम्हारी तुम्हारे प्रतिमूर्तिकी सेवा करता है, क्या इस सेवासे तुम्हारी प्रशंसा है ? नहीं, किन्तु संसारभावका विनाश करनेवाली उस इन्द्रकी यह सेवा तुम्हारी प्रशंसाको विस्तारती है । इस ही कारणसे तुम संसार समुद्र से पार करनेवाले हो, तुम सिद्धि रूपी कान्ताके पति हो, तुम लोकोंके प्रभु हो इस प्रकार तुम्हारा स्तोत्र आदरसे किया जाता है ।

सारांश—चैतन्य तत्त्वकी बड़े बड़े ऋषि, इन्द्र, चक्री सेवा करते हैं; इससे चैतन्यके स्वयंका कोई महात्म्य सिद्ध नहीं है । किन्तु इस चैतन्यकी सेवासे, अनुभूतिसे ऋषि आदि सांसारिक दुःखसे सदैव को मुक्त हो जाते हैं इससे तुम्हारा माहात्म्य है । सुखार्थीको सच्चे उद्देश्यको लेकर इस निज समरसपूरित चैतन्य भगवान्की सेवा करनी चाहिये ।

वृत्तिर्वाचामपरसदृशी न त्वमन्येन तुल्यः,
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततस्त्वय्यमी नः क्रमन्ते ।

मैवं भूवंस्तदपि भगवन् भक्तिपीयूषपुष्टास्ते,
भव्यानामभिमनफलाः पारिजाता भवन्ति ॥२०॥

अन्वय—हे भगवन् ! इयं वाचां वृत्तिः अपरसदृशी न, त्वं अन्येन तुल्यः न असि, ततः नः अमी स्तुत्युद्गाराः त्वयि कथं क्रमन्ते ? अथवा एवं मा अभूवन् तदपि भक्तिपीयूषपुष्टाः ते भव्यानां अभिमतफलाः पारिजाता भवति।

अर्थ—हे भगवन् ! यह (मेरे) वचनोंकी प्रवृत्ति अन्य लोकों की तरह है, परन्तु तुम अन्य पुरुषके सदृश नहीं हो, अलौकिक हो। इसलिये मेरे ये स्तुति के उद्गार तुम तक कैसे पहुंच सकते हैं अथवा ऐसा न भी हो अर्थात् ये वचन तुम तक न भी पहुंचे तथापि भक्तिरूपी अमृत से पुष्ट हुए वे स्तुत्युद्गार इष्ट फल देने वाले कल्पवृक्षोंकी तरह होते ही हैं।

अध्यात्मध्वनि—हे ध्रुवज्ञानमय ! व्यवहारमय वचनोंकी प्रवृत्ति अन्य व्यवहारमय वचनोंकी तरह अथवा व्यवहारस्थ पुरुषोंकी तरह है। और परमार्थस्वरूप तुम अन्य व्यवहारियों की तरह नहीं हो। इसलिये मेरे ये स्तवनके वचन अथवा स्तुतिके वितर्क तुम तक किस तरहसे पहुंच सकते हैं ? अथवा ऐसा न भी हो अर्थात् व्यवहार वचन परमार्थस्वरूपको न भी छू सके तो भी चैतन्यकी भक्तिरूप अमृतसे परिपुष्ट हुए वे स्तुतिके उद्गार परमेष्टफल के निमित्तभूत कल्पवृक्ष हैं ही।

सारांश—अवक्तव्य स्वसंवेद्य परमार्थ तत्त्व व्यवहारमय वचनोंसे अगम्य है तथापि जैसे अंगुलिके सहारे चन्द्रमा बता दिया जाता है वैसे चैतन्यस्तवनके ज्ञानगुणादि कथनरूप व्यवहारमय वचनके सहारे चैतन्यके अनुभवरूप परमार्थ तत्त्वमय परमेष्टपद दिख जाता है। अतः हे चैतन्यदेव ! तुम्हारा ही लक्ष्य, तुम्हारा ही गान बना रहे।

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम्।

आज्ञावश्यं तदपि भुवनं सन्निधिर्वैरहारी,
क्वैवंभूतं भुवनतिलक प्राभवं त्वत्परेषु ॥२१॥

अन्वय—हे देव ! तव क्व अपि कोपावेशः न अस्ति च तव क्व अपि प्रसादः न अस्ति। हि तव अनपेक्षं चेतः परमोपेक्षया एव व्याप्तं वर्तते। तदपि भुवनं आज्ञावश्यं च सन्निधिः वैरहारी समस्ति। हे भुवनतिलक एवं भूतं प्राभवं त्वत्परेषु क्व विद्यते ?

अर्थ—हे देव तुम्हारा किसी पर भी कोपका आवेश नहीं है और न किसी पर तुम्हारी प्रसन्नता है, निश्चयसे तुम्हारा निरपेक्ष मन (भाव) उत्कृष्ट उपेक्षासे ही व्याप्त है, तो भी यह लोक तुम्हारी आज्ञाके वश है और तुम्हारी निकटता वैरकी हरने वाली है। हे भुवनश्रेष्ठ ऐसा ऐश्वर्य तुम्हारे सिवाय अन्यत्र कहां है ?

अध्यात्मध्वनि— हे ज्योतिर्मय ! तुम्हारे कहीं कोपका आवेश नहीं और तुम्हारे कहीं भी हर्ष नहीं अर्थात् तुम राग द्वेषके स्वरूपसे न्यारे ही हो। निश्चयसे तुम्हारा निरपेक्ष उपयोग अथवा परिणमन भी परम उपेक्षासे व्याप्त है। फिर भी लोक तुम्हारी आज्ञा-प्रसन्नताके आधीन हैं, जब लोकोंके गुरु, मुनि, साधु, विवेकी, तुम्हारी आराधना करते हैं तो सब लोक तुम्हारे आधीन स्वयं सिद्ध हो गया अथवा तुम्हारी आज्ञा अर्थात् व्यक्तिके आधीन यह लोक है ही। तुम्हारी निकटता समस्त वैर विरोधको हरने वाली है। हे लोकोत्तम ! ऐसा प्रभाव तुमसे भिन्न, बुद्धि, राग, काम आदि किन्हीं भी भावोंमें कहां हो सकता है ?

सारांश—चैतन्य का प्रसाद ही सर्व कल्याण है, इसलिये परम शुचि चैतन्य देवकी अराधना करो।

देव स्तोतुं त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्तिं,
तोतूर्ति त्वां सकलविषयज्ञानमूर्तिं जनो यः।

तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्ति पन्था-
स्तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः ॥२२॥

अन्वय—हे देव यत्र त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्ति सकलविषयज्ञानमूर्ति त्वां स्तोतुं यः जनः तोतूर्ति, क्षेमं पदं अटतः तस्य पन्थाः जातु न जोहूर्ति च एषः मर्त्यः तत्त्वग्रन्थस्मरणविषयेन मोमूर्ति ।

अर्थ— हे देव स्वर्गकी अप्सरावोंके समूहके द्वारा गाई गई है कीर्ति जिसकी ऐसे और सर्व पदार्थोंको विषय करने वाले ज्ञानकी मूर्तिस्वरूप तुमको स्तवनेके लिये जो मनुष्य शीघ्रता करता है मङ्गलमय परमपदके प्रति गमन करने वाले उस पुरुष का मार्ग कभी कुटिल (दुर्गम्य) नहीं होता और वह पुरुष तत्त्व-प्रतिपादक ग्रन्थोंके स्मरणके सम्बन्धमें कभी मूर्छाको प्राप्त नहीं होता ।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्योतिर्मय ! स्वर्गवासियोंकी प्रधान देवांगनावोंकी मण्डलीके द्वारा गाई गई है कीर्ति जिसकी (अर्थात् प्रधान स्त्रीजनोंका कीर्ति गान देखकर यह सहसा अनुमान हो जाता है कि इस विषयकी कीर्ति महन्त योगीन्द्रादि द्वारा गाई गई है क्योंकि गणिकावोंका गान महन्तोंके अनुरूप होता है) ऐसे, एवं समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञानकी मूर्ति परिणति उठती है जहाँ से ऐसे, तुमको जो मनुष्य स्तवन करने के लिए अपनानेके लिए शीघ्रता करता है; कल्याणमय उस निज पदको जाते हुए उस भक्तका मार्ग कभी वक्र नहीं होता है और वह चैतन्यानुरागी परमतत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थोंके स्मरण में कभी मूच्छित नहीं होता है अथवा तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थोंके स्मरणमें कभी मूच्छित नहीं होता है अथवा तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थके स्मरणरूप पर्याय तकमें भी स्नेही नहीं होता है ।

सारांश—चैतन्यतत्त्वके लक्ष्यमें ही परम अभीष्टकी सिद्धि है, अतः चैतन्य देवकी ही अभिन्न आराधना करो ।

चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,
देव त्वां यः समयनियमादादरेण स्तवीति ।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा,
कल्याणानां भवति विषयः पञ्चधा पञ्चितानां ॥२४॥

अन्वय—हे देव ! निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं त्वां चित्ते कुर्वन् यः समयनियमात् आदरेण स्तवीति । खलु सः सुकृती तावता श्रेयोमार्गं पूरयित्वा पञ्चधा पञ्चितानां कल्याणानां विषयः भवति ।

अर्थ—हे देव ! अपरिमित सुख ज्ञान दर्शन शक्तिमय तुमको चित्तमें करता (धारण करता) हुआ जो पुरुष समयके नियमसे आदर पूर्वक स्तवन करता है निश्चयसे वह पुण्यवान् उतने से ही मोक्ष मार्गको पूरित करके पञ्च प्रकारके कल्याणोंका (गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण) विषय (अधिकारी) होता है ।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्योतिर्मय अनन्त सुख अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन व अनन्त वीर्य है रूप (पर्याय) जिसका, ऐसे तुम चैतन्य तत्त्वको उपयोगमें धारण करता हुआ जो निकट भव्य स्वभावानुरागसे समयके नियमसे (अर्थात् इस स्तोतव्यका ही अनन्त कालके लिये लक्ष्य न रख कर) यथार्थ स्तवन करता है । निश्चयसे वह लोकोत्तमकृतिमान् उस अभेदस्तवनसे (ध्यान से) मोक्षमार्गको पूर्ण करता हुआ, चैतन्य, ज्ञानदर्शन अनन्तज्ञानादि, निर्विकल्पभावना व सम्यक्त्व—इस प्रकार पञ्च उत्तमभूमिकाकल्याणसे विस्तृत कल्याणोंका पात्र होता है ।

सारांश—जो चैतन्य तत्त्वका लक्ष्य करता है वह सम्यक्त्व आदि उत्तम कल्याण भूमिको प्राप्त हो शाश्वत सुखी होता है ।

भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद त्वत्कीर्तने न क्षमाः,
सूक्ष्मज्ञानदृशोऽपि संयमभृतः के हंत मन्दा वयं ।

अस्माभिः स्तवनच्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते,
स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु नः कल्याणकल्पद्रुमः ॥२५॥

अन्वय—भक्तिप्रह्वमहेन्द्रपूजितपद हे देव ! सूक्ष्मज्ञानदृशः संयमभृतः अपि त्वत्कीर्तने क्षमाः न सन्ति । हन्त वयं मन्दाः के ? तु अस्माभिः स्तवनच्छलेन त्वयि परः आदरः तन्यते । खलु सः स्वात्माधीनसुखैषिणां नः कल्पद्रुमः स्यात् ।

अर्थ—भक्तिसे नम्रीभूत महेन्द्रोंके द्वारा पूजित हैं चरण जिनके, ऐसे हे देव ! सूक्ष्म ज्ञान ही हैं नेत्र जिनके ऐसे मुनिवृन्द भी तुम्हारे गुण कीर्तनमें समर्थ नहीं हैं, तब खेद है कि हम मंद बुद्धि वाले कौन हैं परन्तु हमारे द्वारा स्तवनके छलसे आपमें परम आदर विस्तृत किया जा रहा है सो निश्चयसे वह स्वात्माधीन सुख चाहनेवाले हम लोगोंको कल्पद्रुम स्वरूप होवे ।

अध्यात्मध्वनि—चैतन्यतत्त्वकी रुचिसे सरल और लाभोत्सुक महान् आत्मावों द्वारा आदृत है ज्ञानदर्शन सामान्य रूप अभिन्न पद जिसके, ऐसे हे चैतन्य देव सूक्ष्म (निर्मल) ज्ञान दर्शनको धारण करने वाले संयमी योगीन्द्र भी तुम्हारे स्वरूपकीर्तनमें समर्थ नहीं हैं, तब हन्त ! हम जैसे अल्पज्ञानपर्यायी क्या हैं अर्थात् कीर्तनमें कैसे समर्थ हो सकते हैं ? तो भी मेरे द्वारा स्तवनके छलसे आश्रयसे तुममें मेरे बुद्धिगत उत्कृष्ट आदरमात्र ही किया जा रहा है सो निश्चयसे वह आदर ही स्वात्मीय सुखके इच्छुक हम लोगोंको कल्याणकारी कल्पवृक्ष होवे अर्थात् स्तवनके संकेतसे परमार्थस्वरूप आपका अवलोकन करके उसीमें स्थिरता प्राप्त हो ।

सारांश—रत्नोत्तम चैतन्य तत्त्वकी महिमा अनुभवसे ही प्रतीत है, वह वर्णनमें नहीं आता परन्तु हमारा वर्णन तो आपकी रुचि मात्र है यही प्रकट हो जिसके प्रसादसे सर्वविकल्पोंसे रहित चैतन्यमात्र वर्तूं ।

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः ।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः ॥२६॥
वादिराजस्तुतौ दृष्ट्वा शब्दांश्चित्तत्त्वसूचकान् ।
कृताध्यात्मध्वनिर्भूयात्सहजानन्दसिद्धये ॥

*समाप्तम् *